12 निजी, छोटे एवं प्रयोगधर्मी स्कूल नेतृत्व की चार चुनौतियाँ

प्रिया अय्यर

भारत में स्कूल–शिक्षा रूपान्तरण की प्रक्रिया में है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे स्पष्ट तौर पर दिखाई देने वाली समस्याओं से जूझने के विभिन्न प्रयास हो रहे हैं। ये प्रयास नए दृष्टिकोण अपनाकर किए जा रहे हैं। जैसे, शिक्षकों को न केवल अध्यापन में बल्कि प्रशासनिक निर्णय लेने में सशक्त बनाकर, विद्यार्थियों को स्वनिर्देशित और विचारोत्तेजक गतिविधियों में भाग लेने के अवसर प्रदान करके, स्कूल और समाज के बीच सम्बन्ध स्थापित करके।

कुछ निजी संगठनों ने आगे बढ़कर इस रूपान्तरण का मार्ग प्रशस्त किया है। यहाँ वाराणसी के *निर्माण* नामक संगठन का विशेष उदाहरण प्रस्तुत है। इस संगठन के विचार शैक्षणिक पद्धति में शोध द्वारा वर्तमान वास्तविकताओं के विश्लेषण से निकले हैं।

ऐसे छोटे, निजी, प्रयोगधर्मी स्कूलों में स्कूल नेतृत्व का भारतीय सन्दर्भ में क्या अर्थ है? ऐसे स्कूलों की वास्तविकता और चुनौतियाँ क्या हैं? यह लेख स्कूल के चार पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करके चर्चा का प्रयास करता है। ये पहलु हैं: इसके पालक, शिक्षक, समाज और बदलते हुए सन्दर्भ। मैं सोचती हूँ कि सफल शैक्षणिक पद्धति दो ध्रुवों के बीच लचीली और कल्पनाशील गति से बनती है: इस बारे में श्रेष्ठ दर्शनों में बताए गए आदर्श कि बच्चों को किस तरह सीखना चाहिए; तथा शिक्षकों की सीमाओं, पालकों की प्रतिक्रिया और राज्य द्वारा निर्धारित आवश्यकताओं का यथार्थ।

स्कूल और उसके पालक

मैं अपनी बात उत्तर प्रदेश के एक गाँव में स्थित एक प्रयोगधर्मी स्कूल की माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों से प्रारम्भ करती हूँ। ये विद्यार्थी पर्यावरणीय चुनौतियों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हुए अपने ही गाँव के मुद्दों पर विचार कर रहे थे। वे चर्चा कर रहे थे कि, 'उनके किसान माता–पिता रसायनों के उपयोग से होने वाले नुकसानों के बारे में अनजान थे। धरती को जोतते समय उन्हें पॉलीथीन थैलियाँ मिलती थीं। कुछ गाँव वालों द्वारा गंगा किनारे की रेत अवैध रूप से बेची जा रही थी जिसके कारण भू–क्षरण और भू–स्खलन का खतरा पैदा हो गया था।' ये आवाज उन बच्चों की थीं जो इन स्थितियों के बीच रहते आए थे और जिन्हें इस बात की चिन्ता थी कि गाँव वालों को इन बातों का बोध होना चाहिए।

समाधानों की चर्चा करते हुए उन्हें सूझा कि दीवारों पर चित्र बनाकर इन समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाए, सीधे–सीधे अपने पास–पड़ोस में यह सन्देश फैलाया जाए।

अगले दिन उत्साहित बच्चे काम पर निकल पड़े। जल्दी ही आसपास के लोगों का ध्यान इस ओर गया। उनमें से कुछ खुद भी ब्रश चलाने के लिए आगे आए और कुछ अन्य इस बात से खुश थे कि चित्र बनाने के लिए उनके घरों की दीवारें चुनी गई थीं। यह गतिविधि लगभग एक सप्ताह चली।

एक खिली धूप वाली खुशनुमा दोपहर को स्त्रियों के एक समूह (विद्यार्थियों की माताओं) ने आकर कहा, "तो कोई पढ़ाई नहीं चल रही है। इन तस्वीरों से क्या लाभ होगा? क्या सारा दिन चित्र बनाने, खेलने और मस्ती करने से उनको बुद्धि आ जाएगी?''

पालकों को चिन्ता थी कि उनके बच्चों को नियमित स्कूल जाना चाहिए और 'बौद्धिक कार्य' में व्यस्त रहना चाहिए। वे स्कूल के शैक्षणिक दर्शन से अपना ताल–मेल नहीं बैठा पा रहे थे।

ऐसी घटनाओं से सीख लेकर, स्कूल ने पालकों को स्कूल आने, बच्चों को विभिन्न कार्य करते हुए देखने और शिक्षकों से बेझिझक बात करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्कूल ने अलग–अलग विषयों, जैसे 'कल्पना', पर मेले भी आयोजित किए। स्कूल की शिक्षा पद्धतियों से सम्बद्ध विचारों के बारे में जानकारी देने के मकसद से कलाओं, दस्तकारी कौशलों, नाटकों, संगीत आदि जैसे विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल इस तरह किया गया कि सब पालक उन्हें समझ सकें और उनसे सम्बन्ध बना सकें।

पालकों का इस तरह चिन्ता करना हमें स्कूलों में लिए जाने वाले शैक्षणिक निर्णयों के पहलुओं का पुनरावलोकन करने की ओर ले जाता है। वह हमें इस ओर ले जाता है कि हम प्रत्येक पालक की आवाज, उसकी जरूरतों एवं अभिलाषाओं पर विचार करें। उन्हें इस बारे में आश्वस्त करें कि स्कूली शिक्षा उनके बच्चों को बड़ा हो जाने पर इस रूप में समर्थ और सक्षम बनाएगी कि वे विभिन्न प्रकार के कामों के प्रति एक–सी अभिरुचि और रवैया रख पाएँगे।

क्या पढ़ाना और कितना पढ़ाना, यह अकसर बहस का बड़ा मुद्दा रहा है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा ने इस मुद्दे को दिशा दी है। कुछ राज्यों और केन्द्र की पाठ्यपुस्तकों ने भी पाठ्यचर्या के दायरे को निश्चित किया है। निर्माण ने दिखाया है कि वे शैक्षणिक कार्यक्रम, जो बच्चों के सीखने को उनके आसपास की दुनिया से जोड़ते हैं, जीवन और काम की निरन्तरता को बनाए रखने में प्रभावशाली होते हैं – और इस तरह वे सीखने को अर्थपूर्ण बनाते हैं।

लेकिन अधिकांश पालकों को विद्यार्थियों का रोजमर्रा की प्रक्रियाओं के साथ सक्रिय सम्बन्ध बना पाना नहीं भाता। उन्हें औपचारिक शिक्षण का वातावरण एकमात्र वाँछनीय विकल्प प्रतीत होता है।

इससे स्कूल के लिए पद्धतियों और दृष्टिकोणों के मामले में एक चुनौती खड़ी होती है। यह जरूर है कि पालकों का स्कूलों के साथ जुड़ाव (और उससे अपेक्षाओं) का स्तर विभिन्न सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमियों के साथ बदलता रहता है। लेकिन मोटे तौर पर, आज उपलब्धि के बढ़े–चढ़े मानकों और पाठ्यचर्या के बढ़े हुए बोझ ने पालकों को अपने बच्चों के भविष्य के बारे में आशंकित कर दिया है।

जहाँ एक ओर मध्यमवर्गीय माता–पिता निस्सन्देह ऐसे स्कूल चुनते हैं जिनमें बच्चों के लिए अनुकूल, प्रीतिकर वातावरण हो, वहीं दूसरी ओर कड़ी अनुशासनात्मक शैक्षणिक संस्कृति में भी उनकी आस्था बरकरार है। वे प्रारम्भ में अपने बच्चों के लिए स्कूलों के अभिनव, उदीयमान मॉडल चुनते हैं, लेकिन बाद के वर्षों में अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में पढ़ाना जारी रखने का 'जोखिम' नहीं उठाना चाहते।

ग्रामीण और शहरी, दोनों पृष्ठभूमियों के पालक–समुदायों की शिक्षा के लिए माँग हमें अहसास दिलाती है कि वे बस एक ऐसी औपचारिक व्यवस्था चाहते हैं जिसमें बच्चों द्वारा किए जा रहे काम का लिखित दस्तावेजीकरण हो। यह भावना शायद उपयोगिता और उसके अन्तर्निहित मूल्य में उनकी आस्था से उपजती है, जिसका सम्बन्ध वे पारम्परिक अनुशासनात्मक स्कूली शिक्षा से जोड़ते हैं, क्योंकि वे स्वयं शिक्षा के उसी एकमात्र प्रतिरूप से परिचित होते हैं।

हालाँकि नए, प्रयोगधर्मी स्कूलों का भी एक परिपूर्ण शैक्षणिक कार्यक्रम अवश्य होता है। लेकिन उनके नेतृत्व का कार्य केवल बच्चों तक सीमित नहीं होता, बल्कि उसे आगे बढ़कर उनके पालकों के लिए भी एक समानान्तर कार्यक्रम प्रारम्भ करना पड़ता है। उसकी चुनौतियों का दायरा सीखने–सिखाने की नई निकलती धाराओं से पालकों को परिचित कराने से लेकर उनके साथ आहार, स्वास्थ्य और लिंगभेद जैसे मुद्दों पर चर्चा करने तक फैला रहता है। उसमें पालकों के साथ स्कूल की विशेष गतिविधियों की योजना बनाने, और उन्हें अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा में सक्रिय भूमिका निभाने का अधिकार देने जैसे काम भी शामिल रहते हैं।

“*हालाँकि नए, प्रयोगधर्मी स्कूलों का भी एक परिपूर्ण शैक्षणिक कार्यक्रम अवश्य होता है। लेकिन उनके नेतृत्व का कार्य केवल बच्चों तक सीमित नहीं होता, बल्कि उसे आगे बढ़कर उनके पालकों के लिए भी एक समानान्तर कार्यक्रम प्रारम्भ करना पड़ता है। उसकी चुनौतियों का दायरा सीखने–सिखाने की नई निकलती धाराओं से पालकों को परिचित कराने से लेकर उनके साथ आहार, स्वास्थ्य और लिंगभेद जैसे मुद्दों पर चर्चा करने तक फैला रहता है।*”

स्कूल और उसके शिक्षक

अब मैं एक साक्षात्कार कक्ष में घटी एक विशेष घटना का उदाहरण लेकर शिक्षकों के मुद्दे पर आती हूँ। एक उम्मीदवार शिक्षिका ने यह कहकर अपना परिचय दिया, "मैं बी.एड. हूँ। मैंने 'महिला शिक्षक' के पद के लिए आवेदन दिया है। मैं छोटी कक्षाओं में सभी विषय पढ़ा सकती हूँ। कक्षा 5 तक गणित और विज्ञान पढ़ा सकती हूँ। मैं अँग्रेजी, 'सामाजिक', और हिन्दी पढ़ा सकती हूँ। मैंने कक्षा 5 तक संस्कृत की है, यदि इसके लिए पद रिक्त हो तो मैं यह भी पढ़ा सकती हूँ। मैं 'कम्प्यूटर' नहीं जानती, लेकिन मुझे सामान्य ज्ञान और नैतिक विज्ञान (मॉरल साइंस) पढ़ाने का अनुभव है।"

एक स्तर पर ऐसे उत्तर से कोई भी स्कूल–प्रमुख खुश हो सकता है। लगता है कि उसे एक बहुमुखी प्रतिभा वाला प्रशिक्षित पेशेवर व्यक्ति मिल रहा है। लेकिन बाद में हुआ संवाद इस वर्णित सूची और सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में उसके वास्तविक उपयोग के बीच की एक बड़ी खाई दर्शाता है। यह स्थिति काम के विकल्प के तौर पर अध्यापन के 'चुनाव' को निर्धारित करने वाले सामाजिक लोकाचार और रवैये को प्रतिबिम्बित करती है। यह उम्मीदवार के चयन में स्कूलों की सीमाओं को दर्शाता है। साथ ही सतत सेवाकालीन कार्यक्रम करवाए जाने की आवश्यकता और जिम्मेदारी को भी रेखांकित करता है।

क्या स्कूल सेवाकाल के दौरान प्रशिक्षण देते हैं? यह वह सवाल है जो मुझसे बार–बार पूछा जाता रहा है।

स्कूल पर सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की कड़ियाँ जोड़ने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। इस जरूरत को महसूस करते हुए *निर्माण* अपने सेवारत शिक्षकों के लिए कार्यक्रम चलाता है। इनमें विचार करना सीखना, विभिन्न प्रकार के अनुभवों के लिए अवसर निर्मित करना, बच्चों के साहित्य व पाठ्यचर्या–सामग्री को समझना तथा महत्वपूर्ण रूप से सामाजिक मुद्दों पर दृष्टिकोण निर्मित करना शामिल हैं।

ऐसे स्कूलों में नेतृत्व नवनियुक्त शिक्षकों के प्रति एक सहृदय रवैया अपनाता है। यह शिक्षकों के मजबूत पहलुओं को आधार बनाकर उनकी योग्यता को बढ़ाने में विश्वास रखता है; यह विश्वास भी, कि सीखने–सिखाने में देशज, स्थानीय किस्मों के उनके ज्ञान का उपयोग हो। यह पाठ्यचर्या को सांस्थानिक स्वरूप से मुक्त करके शिक्षकों को उसे इस तरह निर्मित करने का अवसर देता है कि वह बच्चों के अनुभवों से मेल खाए।

इसमें शक नहीं कि यह दृष्टिकोण लम्बी अवधि में शिक्षकों को सशक्त बनाएगा, पर स्कूलों के सामने एक बड़ी चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि बच्चों के लिए शिक्षकों के रूपान्तरण की इस यात्रा के कोई दूरगामी नैतिक परिणाम न हों। बच्चों को ऐसे सक्षम वयस्कों की जरूरत होती है जो उनकी तात्कालिक

> *एक अन्य आशा की किरण स्वायत्तता का पहलू है। ये स्कूल समुदाय और संचालकों के बीच एक अनोखे प्रकार की साझेदारी सम्भव बनाते हैं जिसमें उनके बीच की दीवारें पारदर्शी होती हैं। चीजों की कल्पना करना और उन्हें लागू करते हुए साकार करना इन स्कूलों में एक साझा प्रयास होता है और इसलिए इनके नेतृत्व की प्रकृति बहुलतावादी होती है।*

आवश्यकताओं को पूरा करने में उनके साथ काम कर सकें। उन्हें ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता होती है जो विभिन्न तरीकों से उनकी योग्यता को निखारें, न कि ऐसे शिक्षकों की जो उनके साथ स्वयं भी हर विषय की बुनियादी बातें सीख रहे हों।

इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि शिक्षक की पारम्परिक छवि को मजबूत किया जा रहा है, जिसके तहत उसे सीखने वाला कभी नहीं माना जाता, बल्कि सर्वज्ञानी माना जाता है। इसके बजाय इस घिसी–पिटी छवि के बदले ऐसे शिक्षक बनाने की असली चुनौती पर काम करने की जरूरत पर जोर दिया जा रहा है जिन्हें अच्छा बुनियादी ज्ञान तो हो, पर जो सदा नया सीखने के लिए खुला दिमाग रखते हों। लेकिन, मददगार पेशेवर वातावरण में भी शिक्षकों को अपने स्वयं के ज्ञान और रवैये को छोड़ना मुश्किल लगता है। इसलिए उनमें ऐसे कार्यक्षेत्र ढूँढ़ने की प्रवृत्ति रहती है जिनमें सोचने और स्वयं पर काम करने की जरूरत न हो।

इन सारी परिस्थितियों के बावजूद इस प्रकार के स्कूल पालकों और शिक्षकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से कतराते नहीं हैं। इसके विपरीत, वे दूसरे आयामों के लिए उनकी प्रतिबद्धता में कुछ जोड़ते ही हैं।

स्कूल और उसका बृहद समाज

खेल–दिवस के एक कार्यक्रम के बाद मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि के एक पालक ने टिप्पणी की कि "गरीब परिवारों के बच्चों ने दौड़ों में असाधारण प्रदर्शन किया। यूनिफॉर्म में भी आप उनको पहचान सकते हैं...। पुरस्कार प्राप्त करते समय उनके चेहरों पर छाई मुस्कानों को देखें!" उन्होंने आगे कहा, "पर क्या आपको नहीं लगता कि अब स्कूल में गरीब बच्चे अधिक हो गए हैं?"

एक अन्य पालक ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा, "पहले मेरे बच्चे को 'पागल' शब्द का पता तक नहीं था, पर अब वह वो सब गालियाँ इस्तेमाल कर रहा है जो उसने बस में सीखी हैं। मेरे विचार से बस में एक शिक्षक यह सुनिश्चित करने के लिए होना चाहिए कि नादान बच्चों पर दूसरों का असर न पड़े।"

ऐसी स्थितियों के कारण *निर्माण* ने 'पास–पड़ोस सभाएँ' प्रारम्भ कीं जिनमें विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमियों के लोगों ने अपनी चिन्ताएँ व्यक्त कीं और ऐसे मसलों से निपटने के लिए अपनी जिम्मेदारियों पर विचार किया। इससे लोगों को व्यक्तिगत जान–पहचान करने और सामाजिक नाते जोड़ने में भी मदद मिली।

हमारे संवैधानिक जनादेश का पालन करते हुए स्कूलों को सभी बच्चों को समान अवसर प्रदान करना चाहिए, चाहे उनकी सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि कैसी भी हो। पर आज के भारत में, जो अभी भी एक पारम्परिक और आधुनिक पहचान के बीच संघर्ष कर रहा है, 'शुल्क देने वाले' और 'निःशुल्क पढ़ने वाले' विद्यार्थियों का एकीकरण करने में अनेक चुनौतियाँ हैं।

पालकों और कुछ हद तक शिक्षकों के लिए ऐसे स्कूल को स्वीकार करना आसान नहीं होता जिसके दरवाजे वंचितों के लिए खुले हों। ऐसी परिस्थिति और विचार–प्रक्रिया को बदलने में कानून अकेले कभी भी सफल नहीं हुए हैं। हालाँकि स्कूलों को गुणवत्ता सुधारने के लिए अपनी प्रतिबद्धता पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है। वे सामाजिकता को संज्ञानात्मक से और भावनात्मक को शारीरिक से अलग करके देखने की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए, प्रश्न हमारे बच्चों के विकास का और हमारे समाज के भविष्य का है, चाहे रास्ते में कैसी भी चुनौतियाँ आएँ।

वास्तव में, यह मानवता से जुड़ाव का व्यापक प्रश्न है।

स्कूल और उसका बदलता सन्दर्भ

अब मैं उस मुद्दे पर आती हूँ जिससे स्कूल का सामना व्यवस्था के स्तर पर होता है।

शिक्षा नीति के हालिया परिवर्तनों में भारत के शैक्षणिक क्षेत्र को विदेशी पूँजी निवेश के लिए खोलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके पीछे का विचार यह है कि निजी संस्थाएँ गुणवत्ता लाने के लिए आत्मनियमन की विधियों–प्रक्रियाओं से लैस होकर स्वयं को सशक्त करें और साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की जिम्मेदारी को भी बाँटें। कुछ लोगों ने इस कदम का स्वागत किया है लेकिन इस मुद्दे पर अभी भी बहस चल रही है। हमारी अधिक चिन्ता उन स्कूलों के बारे में है जो बड़ा बदलाव लाना चाहते हैं।

किसी कल्पना को साकार करने के लक्ष्य से काम करने वाले स्कूलों के लिए पूँजी–निवेश और आर्थिक आधार बेहद महत्वपूर्ण रहते हैं। हमारी श्रेष्ठ युवा प्रतिभाएँ चुनौतीपूर्ण और रचनात्मक नौकरियों में टिकी नहीं रह पातीं। अपर्याप्त वित्तीय साधन इसके रास्ते में एक बड़ी बाधा हैं। ये स्कूल अकसर उदीयमान पेशेवर युवाओं के लिए क्षमता–निर्माण का प्रारम्भिक मंच तो बन जाते हैं, लेकिन अपना 'प्रशिक्षण काल' पूरा हो जाने पर वे इस मंच को छोड़कर कोई अधिक आकर्षक विकल्प चुन लेते हैं।

उच्च शिक्षा में उदारवादी नीति की ही तरह स्कूलों के लिए बस एक उदारवादी कदम भी अगर सरकार उठा ले तो इस प्रकार के स्कूलों की सहायता के लिए बहुत कुछ कर सकती है। स्पष्ट रूप में, यदि उन्हें 'बोर्ड से सम्बद्धता' प्रदान कर दी जाए तो पालक अपने बच्चों और शिक्षक अपनी नौकरियों के सुरक्षित भविष्य की कल्पना कर पाएँगे। सबसे बढ़कर, स्कूलों को बल मिलेगा कि वे और भी अधिक जोश से अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ें। हो सकता है कि इसके बावजूद शिक्षक अवसर मिलने पर अधिक लाभकारी नौकरियों में चले जाएँ, लेकिन फिर भी इससे ऐसे बहुत से लोग, जो गम्भीरता से अपना जीवन शिक्षा को समर्पित करना चाहते हैं, इन स्कूलों में बने रहेंगे।

आज शिक्षा व्यावसायिक सम्भावनाओं से परिपूर्ण है और राष्ट्रीय बोर्ड से सम्बद्धता अधिकांश स्कूलों को छात्रों की बड़ी संख्या के दाखिले के साथ फलने–फूलने का अवसर प्रदान करवाती है। पर विडम्बना यह है कि एक सशक्त दर्शन और दूरदर्शी स्वप्न लेकर काम करने वाले स्कूलों को यह सम्बद्धता आसानी से नहीं मिलती। कठोर दफ्तरी कायदे–कानूनों के कारण ऐसे स्कूलों को बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ता है। मान्यता–प्राप्त हैसियत न होने से, वे बड़े पैमाने पर अपना किफायती विस्तार नहीं कर पाते और उन्हें सिर्फ 'उत्कृष्टता के द्वीप' मान लिया जाता है।

एक उठने वाला प्रश्न यह है – क्या ऐसे सृजनात्मक प्रयासों को वाकई में बड़े स्तर पर किया जा सकता है? क्या छोटे प्रयास को भी उसी तरह उचित सराहना और सहयोग मिल सकता है जैसे बड़े को मिलता है?

निष्कर्ष

सब समस्याओं के बावजूद, वह क्या है जो ऐसे संगठनों को चलाए रखता है? शायद हर चुनौती के साथ ही लोगों, संसाधनों, राज्य की नीतियों और युगों से हमारे समाज के सामने खड़े मुद्दों से पार पाने की तीव्र इच्छा और सफलता की उम्मीदें भी आती हैं।

बच्चे ऐसे स्कूलों को जबरदस्त आत्मविश्वास देते हैं। सीखने की हर प्रक्रिया में उनकी भागीदारी और उनके आनन्द से समाज के प्रति उस प्रतिबद्धता की झलक मिलती है जो उनमें वयस्क होने पर होगी।

ताकत उन शिक्षकों से भी मिलती है जो सीखने के एक स्थान को स्कूल की व्यवस्था और समुदाय के साथ साझा करने में आनन्द अनुभव करते हैं; जो कुशल पेशेवर व्यक्तियों की तरह न केवल स्वयं का विकास करने बल्कि व्यापक समुदाय के भी निरन्तर विकास का मार्ग प्रशस्त करने की आवश्यकता महसूस करते हैं।

एक अन्य आशा की किरण स्वायत्तता का पहलू है। ये स्कूल समुदाय और संचालकों के बीच एक अनोखे प्रकार की साझेदारी सम्भव बनाते हैं जिसमें उनके बीच की दीवारें पारदर्शी होती हैं। चीजों की कल्पना करना और उन्हें लागू करते हुए साकार करना इन स्कूलों में एक साझा प्रयास होता है और इसलिए इनके नेतृत्व की प्रकृति बहुलतावादी होती है। यह साझा विश्वास और समझ वर्तमान आवश्यकताओं के बोध और मुद्दों का समाधान करने की इच्छा से विकसित होते हैं।

इस प्रकार के स्कूलों में नेतृत्व एक दूरदर्शी कल्पना से निकलता है। यह उन लोगों को 'विस्मित' नहीं करता जो तरह–तरह से इसके साथ जुड़ाव बनाते रहते हैं। यह स्कूल में और उसके आसपास होने वाली हर छोटी से छोटी बात में प्रतिबिम्बित होता है। उदाहरण के लिए, सुबह के अखबार में शहर में सम्भावित बन्द की खबर पढ़कर एक बस–चालक द्वारा पालकों के एक केन्द्रीय समूह को टेलीफोन करने की पहल करना और त्वरित निर्णयों पर कार्यवाही करना। यह पर्यावरण प्रदूषण या अन्तर्धार्मिक आस्था या समझ जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर स्कूल के साथ सहयोग करने वाले नागरिक समाज के समूहों की कोशिशों में भी प्रतिबिम्बित होता है।

कोई भी दूरदर्शी सपना एक स्वाभाविक मार्ग का अनुसरण करते हुए साकार होता है। वह जबरन थोपा नहीं जाता, बल्कि वह उसमें शामिल लोगों, उनके व्यक्तिगत प्रयासों, आत्मदिशा बोध और अन्तःप्रेरणा का अभिन्न अंग होता है। स्वायत्तता ऐसे स्कूलों को स्थापित शैक्षणिक ढाँचों की नकल न करने का विकल्प देती है। उन्हें एक अनूठी संरचना विकसित करने का अवसर मिलता है, जिससे परिस्थिति विशेष की माँगों के साथ तालमेल बैठाया जा सकता है। यह संरचना सतत आत्मनिरीक्षण द्वारा हमारे संविधान में कल्पित लक्ष्यों को भी अपने घेरे में लेती है।

जहाँ एक ऐसा आधारभूत आन्तरिक बल, सहयोगात्मक प्रयास और परिवर्तन के प्रति निरन्तर उन्मुखता होगी, वहाँ रूपान्तरण और परिवर्तन होगा। और वहाँ होगी...शिक्षा।

प्रिया अय्यर बंगलौर में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन स्कूल टीम की सदस्य हैं। इसके पहले वे 17 वर्षों तक शिक्षिका रहीं हैं। उन्होंने वाराणसी स्थित एक गैर–लाभकारी संस्था 'निर्माण' में काम किया जहाँ वे उसके प्रयोगधर्मी स्कूल 'विद्याश्रम' की प्रमुख थीं। स्कूल चलाने के अलावा, प्रिया को बच्चों को पढ़ाने, कलात्मक प्रोजेक्टस रचने और सामुदायिक कार्यक्रमों में भाग लेने में बहुत आनन्द आता है। उनसे priya@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।